एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XVIII

सत्ता, सियासत की तहें और स्कूली संगठन

फ़राह फ़ारूक़ी

मौजूदा लेख में ज़िक्र है कि किस तरह स्कूल की ख़स्ताहाल बिल्डिंग के ईद-गिर्द सियासत खेली गई। इस सियासत के खेल में इलाक़ाई नेता, वालदैन, आर.डब्ल्यू.ए. के लोग, टीचर, मैनेजमेंट कमेटी, मौहल्ले के लोग शामिल थे। इस वाक़िये ने कई चीज़ों से धुंध और पर्दे साफ़ करने का काम किया। जो दो अहम् चीज़ें बेनक़ाब हुईं उनमें शामिल हैः एक, किस तरह स्कूल एक संगठन या आयोजन के रूप में काम करता है। इसमें भागीदारी रखने वाले लोगों का स्कूल के बारे में, इससे अपने रिश्ते के बारे में या इसके मक़सद के बारे में क्या एक मिला-जुला तसव्वुर होता है या नहीं। ज़िक्र है कि स्कूल से जुड़े लोगों की पहचान, सत्ता और सत्ता का एहसास किस तरह की ग़ैर-बराबरियों और सियासी पेचेदगियों से रूबरू करवाता है। दूसरी चीज़ जो साफ़ तौर पर उभरी, वह थी मुसलमानों की अपनी पहचान और तहफ़ुज़ के बारे में फ़िक्र। यह साफ़ है कि तहफ़ुज़ की कमी के शिकार लोगों को किस तरह चुनाव की राजनीति का मोहरा बनाया जाता है।

जैसा कि मैं पहले भी लिखती रही हूं कि हमारे स्कूल की सौ साल पुरानी इमारत जहां ज़्यादातर कक्षाएं लगती हैं बहुत ख़स्ताहाल है। मरहम-पट्टी जो लगाकर चलती रहती है कहां तक साथ दे सकती है। मुझ पर तो हर बरसात में ख़ौफ़ तारी रहता ही था कि कहीं कोई हादसा न पेश आ जाए, अचानक हमारी सोसाइटी (जो स्कूल चलाती है) भी जाग गई। बिल्डिंग की हालत देखकर स्कूल की बिल्डिंग कमेटी की, जिसमें प्रिंसिपल साहब, मैं और सोसाइटी के दो साथी शामिल थे, यह राय हुई कि हमें बच्चों की सलामती और तहफ़ुज की ख़ातिर यह बिल्डिंग छोड़ देनी चाहिए। यहां कक्षाएं लगाना ख़तरनाक साबित हो सकता है। आगे की कार्यवाही के तहत स्कूल की मैनेजिंग कमेटी ने यह फ़ैसला किया कि हमें शिक्षा विभाग से दरख़ास्त करनी चाहिए कि जब तक हमारी नई इमारत नहीं बन जाती हमें किसी और सरकारी स्कूल में (जहां सिर्फ़ सुबह स्कूल चलता हो) शाम की शिफ्ट में कक्षाएं लगाने की इजाज़त दे दें। मैंने इस सिलसिले में शिक्षा विभाग को ख़त लिखा कि इंजीनियरों की रिपोर्टों के हिसाब से हमारे स्कूल की इमारत बोसीदा-ख़तरनाक हालत में है। हमारी मैनेजिंग कमेटी ने इसे हर हाल में 31.3.2014 तक छोड़ने का फ़ैसला किया है। हमें आर्ज़ी तौर पर अपनी कक्षाएं कहीं और लगाने की इजाज़त दे दी जाए। जिस स्कूल के लिए दरख़ास्त दी थी वो हमारे स्कूल से बस 500 मीटर के फ़ासले पर था। ख़त में यह हवाला भी दिया कि पहले शिक्षा विभाग इस तरह की मदद सरकारी मदद से चलने वाले एक और स्कूल की कर चुका है। दरख़ास्त देने से पहले हमने स्कूल इन्तज़ामिया कमेटी (SMC), जो शिक्षा अधिकार क़ानून के तहत बनाई गई थी, की मीटिंग भी बुलाई। मक़सद था कि वालदैन की राय शामिल कर ली जाए। वालदैन का सुझाव था कि स्कूल के बाहरी मैदान में

नोटः यह लेख शिक्षा विमर्श के जनवरी-फरवरी, 2015 अंक में छपे लेख XIV का दूसरा हिस्सा है।

टैंट लगाकर कक्षाएं चलाएं और साथ ही नई इमारत भी बनती रहे। यह कहने पर कि इमारत बनने में भी दुश्वारी होगी और सरिये-पत्थर से बच्चों को चोट भी लग सकती है, पास के स्कूल में शिफ्ट करने के लिए राज़ी तो हो गए थे। एस.एम.सी. के टीचर मेम्बर भी इस तजवीज़ से राज़ी से ही थे।

शिक्षा विभाग की डायरेक्टर से भी मैंने और सोसाइटी की सैक्रेटरी साहिबा ने मुलाक़ात की थी। शुरू में वह जगह मुहैय्या करवाने के लिए राज़ी सी लगी थीं, लेकिन बाद में उनका रवैय्या बदला हुआ महसूस हुआ। इस बीच शिक्षा के मैदान से जुड़े कुछ लोगों ने हमारी मैनेजमेंट और शिक्षा विभाग के ख़िलाफ़ हाई कोर्ट में पी.आई.एल. (PIL) डाली। उन्होंने अपील की थी कि हमारे स्कूल की बिल्डिंग ख़तरनाक बोसीदा हालत में है और इससे बच्चों को ख़तरा है, इसलिए हमें स्कूल चलाने के लिए आर्ज़ी तौर पर कोई जगह मुहैय्या करवाई जाए। क्योंकि अपील करने वालों ने हमसे स्कूल के फ़ोटो, इंजीनियरों की रिपोर्ट और शिक्षा विभाग को भेजे गए ख़त, सूचना अधिकार के तहत लिए थे, मौहल्ले वालों को शक था कि यह न्याय याचिका खुद हमने अपने ऊपर पड़वाई है ताकि हमें जल्दी राहत मिल सके। इस याचिका के बाद सियासत गरमाई। लोगों और समूहों की गर्मी उनके स्कूल और समाज के रुत्बे-हैसियत का एक अक्स ही था।

बिरादरी की फिक्रें

यह सवाल तो मैं अपने एक लेख में पहले उठा चुकी हूं कि स्कूली बिरादरी के मायने सिर्फ़ वालदैन से कहीं ज़्यादा वसी हैं। इसमें वालदैन के अलावा स्कूल से रिश्ता रखने जताने वाले मौहल्ले के लोग भी शामिल हैं। पी.आई.एल. के बाद तो जैसे मौहल्ले वालों ने स्कूल पर हमला ही बोल दिया। शिकायत थी कि हमने शिक्षा विभाग को जगह के लिए क्यों लिखा और कोर्ट में केस कैसे पहुंचा। चाहते थे कि नई इमारत बने ज़रूर लेकिन स्कूल भी वहीं चलता रहे। कहना था, ''आपने इलाक़े के लोगों से एक बार पूछा तो होता। आपको यहां पर हर एक जाहिल ही नज़र आया। लोकल काउन्सिलर को ही साथ ले लेते''। तरह-तरह से स्कूल पर हक़ जताने की कोशिश की, ''यह स्कूल हमारे बुजुर्गों ने बचाया था। यहां शरनार्थी घुस गए थे। हमारे बुजुर्गों ने बड़ी मुश्किल से उन लोगों को यहां से निकाला था।''

शिकायतें कई तरह के शक-शुबह और दलीलों पर टिकी थी। ऊपर से हमारी इन्तज़ामिया कमेटी ने मौहल्ले वालों से दूरी बना रखी थी। मैनेजिंग कमेटी बिल्डिंग की बोसीदा हालात से इतनी डरी हुई थी कि बच्चों को मुन्तक़िल करना चाहती थी। असल में (खुदा ने ख़ासता) किसी भी हादसे की सूरत में ज़िम्मेदारी भी मैनेजमेंट ही की थी। बिरादरी के इस सवाल का- हमारी नई इमारत का नक़्शा भी म्युनिसिपल कार्पोरेशन से पास नहीं हुआ था, साथ ही नई इमारत बनाने के लिए हमारे पास पूंजी भी नहीं थी- हमारे पास कोई ठोस जवाब नहीं था। सोचा था कि पुरज़ोर कोशिश करेंगे कुछ न कुछ हो जाएगा। लोगों का यह भी कहना था, ''आप लोगों ने इतनी जायदाद पर कब्ज़ा करवा लिया, छुड़ा नहीं पाए, जब छोड़कर जाएंगे तो इस पर भी कब्जा हो जाएगा''। स्कूल ही के दो मुलाज़िमों (एक टीचर और एक क्लर्क) के परिवार जिन्हें रहने के लिए जगह दी गई थी, पिछले बीस साल से जगह पर क़ाबिज़ थे। सोसाइटी इनसे स्कूल के यह हिस्से ख़ाली नहीं करवा पाई थी। एक और फ़िक्र की मिसाल सामने मौजूद थी। पास ही का एक सरकारी मदद से चलने वाला स्कूल पिछले 38 साल से टैंटों में चल रहा है। यह पहले एक अच्छी पुख़्ता इमारत में चलता था। इमरजेन्सी के दौरान उस इमारत को ढाकर फ्लैट बना दिए गए और यह वादा किया गया कि छः महीने के अंदर स्कूल की नई इमारत पास के मैदान में बना दी जाएगी। यह सरकारी वादा आज भी एक धोखा है। लोगों का मानना है कि सरकार नहीं चाहती कि मुसलमानों की इल्मी-माली हालत सुधरे। उन्हें खुद ही यह फ़िक्र करनी होगी।

लोगों को तकलीफ़ इस बात की थी कि कहीं ''स्कूल दूर चला गया तो बहुत बच्चे स्कूल छोड़ देंगे।'' कहना था, ''अगर बच्चे इधर-उधर हो गए तो फिर पढ़ाई की तरफ़ राग़िब नहीं होंगे, गोश्त काटते हुए मिलेंगे।'' इशारा स्कूल के पास के क़साबपुरा इलाक़े की तरफ़ था जहां गोश्त का काम होता है और बहुत से बच्चे पढ़ाई न करने की सूरत में जल्दी इस काम से जुड़ जाते हैं। ये भी कहना है, ''वैसे भी हमारे बच्चे पढ़ नहीं पा रहे हैं, चमार-चूड़ों के पढ़ रहे हैं''। अगर आप ग़ौर करेंगे तो दो चीज़ें साफ़ नज़र आती हैं। इनमें शामिल है सोसाइटी और मैनेजमेंट की बिरादरी से दूरी और

इसके साथ जुड़ी बिरादरी की ‘अपनी’ क़ौम के बच्चों के लिए फ़िक्र। दूरी की वजह से एक-दूसरे के सादिक़ जज़्बों को न तो समझ पाए न भरोसा ही कर पाए। जैसा कि आप जानते हैं कि इलाक़े के बहुत सारे लोग एक ज़माने से बदहाली का शिकार हैं, अब इलाक़े मे इल्म हासिल करने को लेकर बेदारी बढ़ी है। यह भी ख़ूब एहसास है कि तमाम पिछड़ते वर्गों को पॉलिसियों के तहत सरकारी मदद हासिल है और उनमे सामाजिक गति नज़र आती है जबकि इलाक़े के लोगों की स्थिति में गिरावट ही है।

क्योंकि दूरियां, भरोसे को जगह नहीं देती हैं तो इस अपने इदारे को ‘बचाने’ की मुहिम सी इलाक़े में छिड़ गई। इस बेपनाह अपनाइयत में अलगाव की बू आती है। यह अलगाव और बेबसी का एहसास शक-शुबह को और हवा ही देता है। कुछ बेबुनियाद अफ़वाहें जो इस दौरान इलाक़े में फैलीं उनमें शामिल थीं, ‘‘अगर इमारत अच्छी बन गई तो फ़ीस बढ़ जाएगी, हमारे बच्चे इसमें नहीं पढ़ पाएंगे’’, ‘‘यह स्कूल प्राइवेट बन जाएगा’’। यह एहसास कि ग़रीब हाशियेकारों के बच्चों को ख़स्ताहाल-ख़राब स्कूल ही मुहैय्या हो सकता है बरसों के ऐसे ही फ़र्क करने वाले तजुरबों का नतीजा है। क्योंकि बिरादरी के अलगाव और गुस्से को वोटों में बदलने वाले नेता भी इलाक़े में मौजूद हैं तो यह अफ़वाहें भी फैलीं, ‘‘स्कूल यहां से चला गया तो यहां मॉल बनेगा’’ या फिर ‘‘मैनेजमेन्ट, लैण्ड माफ़िया से मिल गई है और उन्होंने स्कूल सात करोड़ में बेच दिया है’’। बताइए, वक़्फ़ बोर्ड की इस जगह का जिसकी मुतावल्ली सोसाइटी है ऐसा इस्तेमाल कौन कर सकता है भला।

ऊंची सियासतः वोटों की राजनीति

अलगाव के शिकार लोगों को ‘लोकतंत्र’ का मोहरा तो बनाया जा सकता है, यह काम हमारे इलाक़े के विधानसभा अध्यक्ष और लोकसभा के उम्मीदवार ने अंजाम दिया। दिल्ली में लोकसभा चुनाव से पहले, बल्कि कोड ऑफ़ कण्डक्ट लागू होने से कुछ ही पहले, मंत्री जी ने हमारे स्कूल में बीस कम्प्यूटर भिजवाए। इसकी दरख़्वास्त तो हमारे प्रिंसिपल साहब ने बहुत पहले दी थी, याद उन्हें ‘सही मौक़े’ पर आया। उनके चेले-चपाटों ने तजवीज़ रखी कि हम मंत्री जी को स्कूल में आमंत्रित करें, उनका शुक्रिया अदा करें और इमारत बनाने के लिए पूंजी की दरख़्वास्त करें। कमज़ोर को बहकाना कहां मुश्किल है, भई हम राज़ी हो गए। लेकिन मंत्री जी की गुर्बानी सुनने भीड़ इकट्ठा नहीं हो पाई। इसलिए उन्होंने दर्शन देना मुनासिब नहीं समझा और इलाक़ाई विधान सभा अध्यक्ष को भेज दिया। मैंने उनका इस्तक़बाल किया और अपनी तक़रीर में इलाक़े के लिए स्कूल की एहमियत का ज़िक्र करते हुए यह शिकायत भी की, कि दिल्ली सरकार को हमने फ़ण्ड के लिए लिखा था लेकिन उन्होंने इस तारीख़ी स्कूल के लिए कोई इंतज़ाम नहीं किया। अध्यक्ष साहब को अपनी वोट बैंक के सामने यह शिकायत बहुत नागवार हुई और उन्होंने अपनी तक़रीर में मुझ पर हमला बोल दिया। कहा, ‘‘आप इस स्कूल को सियासत का मोहरा न बनाएं तो अच्छा होगा’’। उल्टा चोर कोतवाल को डांटे वाला हिसाब-किताब था। आगे बोले, ‘‘जहां तक इमारत की तामीर का ताल्लुक़ है आपने मौहल्ले के इज़्ज़तदार लोगों को साथ लेना ही नहीं चाहा वरना वे ये लोग हैं जो खड़े-खड़े इमारत बनवा देते। इन्होंने कितने ही इस तरह के नेक काम करवाए हैं।’’ अध्यक्ष साहब भांप चुके थे कि स्कूल को वोट बटोरने का ज़रिया बनाया जा सकता है। मौहल्ले के लोगों की जय-जयकार के साथ फूलों से लदे-फंदे जनाब रुख़सत तो हो गए लेकिन स्कूल को ‘दुश्मनों’ से बचाने की मुहिम की सदारत हाथ लग गई थी। पता चला शाम में उनके यहां बैठकें चल रही हैं और नई अफ़वाहें फैल रही हैं। इस ‘गठबंधन’ का नतीजा हमें जल्दी ही कोर्ट में देखने को मिला।

गवर्नर साहब की इनायत और नया स्कूल

सोसाइटी की बच्चों को ख़तरनाक इमारत से हटाने की कोशिशें लगातार जारी थीं। इस सिलसिले में गवर्नर साहब से भी दरख़ास्त की गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि शिक्षा विभाग ने हमें एक स्कूल में शाम के वक़्त कक्षाएं लगाने की इजाज़त दे दी। लेकिन यह वह स्कूल नहीं था जिसके लिए हमने दरख़ास्त दी थी। यह हमारे स्कूल से तक़रीबन डेढ़ किलोमीटर की दूरी पर, सदर थोक बाज़ार के बीचों-बीच स्थित था। यह ख़बर मिलने पर तो टीचर और बिरादरी

दोनों तरफ़ ही आफ़त आ गई। सुबह की शिफ्ट वाली महिला टीचर जो शाम में कक्षाएं लगाने के खिलाफ़ थीं अब तो और परेशान हो गईं। वालदैन को ख़बर मिली तो वह भी पलटनों में स्कूल आए और सोसाइटी-इन्तज़ामिया वग़ैरा के लोगों से मिलना चाहा।

मैंने इस सिलसिले में सैक्रेटरी साहिबा की मीटिंग स्कूल स्टाफ़ और बिरादरी के लोगों से करवाई। असातूज़ा का कहना था कि अगर स्कूल शाम की शिफ्ट में चलेगा और वह भी इस जगह से इतनी दूर तो छोटे बच्चे स्कूल छोड़ देंगे। क्योंकि बड़ी कक्षाओं के 65-70 फ़ीसदी बच्चे अपने परिवार की आजीविका में हाथ बंटाते हैं तो वह भी स्कूल छोड़ सकते हैं। इन बातों से जुड़ी बड़ी फ़िक्र यह थी कि स्कूल में बच्चे अगर कम हो गए तो शिक्षा विभाग उसी हिसाब से काफ़ी अध्यापकों को सर्पलस (surplus) क़रार देकर किसी और स्कूल में भेज देगा। यह तो फ़ितरती बात है कि जब हम एक जगह से लम्बे अरसे तक जुड़े रहते हैं तो उसी में आसानी और सुकून महसूस करते हैं। स्टाफ़ को भी स्कूल से एक लगाव तो था ही। साथ ही सुबह की शिफ्ट की बजाय शाम में काम करने से घरेलू जिन्दगी तो उथल-पुथल होनी ही थी। इसलिए उन सबकी तजवीज़ थी कि ज़्यादातर कक्षाएं जो स्कूल का मुक़ाबलतन नया हिस्सा था वहां लगा लें। इस इमारत में 5-6 कमरों के अलावा तीन प्रयोगशालाएं, कम्प्यूटर लैब, और पुस्तकालय हैं। बताइए इस एक मंजिला इमारत में अठारह और कक्षाएं कहां लगा लेते। फिर भी यह तय किया कि हमारी ग्यारहवीं-बारहवीं कक्षाएं यहीं चलेंगी और स्कूल का ऑफ़िस भी यहीं रहेगा। इस पर भी बिरादरी को और स्टाफ़ इत्मिनान नहीं था। मैंने अपने स्टाफ़ को याद दिलाया कि वे लोग भी लगातार मेरा ध्यान बोसीदा इमारत की तरफ़ दिलाते रहे हैं। यह भी इत्मिनान दिलाने की कोशिश की कि अगर बच्चों की तादाद कम हो भी गई तब भी हम उन्हें कहीं और नहीं जाने देंगे उसी तरह जैसे हमने पुनीता रानी जो सर्पलस क़रार दे दी गई थीं, स्कूल में रोक रखा है। इमारत बनने के बाद तो बच्चों की तादाद बहुत बढ़ जाएगी। मैं अपने स्टाफ़ को बहला-बहका नहीं रही थी, यह कहने की कोशिश थी कि ऐसी सूरत में मेरी ज़िम्मेदारी और बढ़ जाएगी लेकिन मैं उनके साथ हूं।

क्या करें मैं और सैक्रेटरी मैडम हमज़बान नहीं थे। टीचर हज़रात को हमारे रुत्बे, फैसलों में दख़ल और पकड़ का भी ख़ूब अंदाज़ा था। सैक्रेटरी के कहने पर कि वे अगर सर्पलस भी हो जाएंगे तो इन्तज़ामिया को कुबूल है, बच्चों की सलामती ज़्यादा ज़रूरी है। एक घबराई सी ख़ामोशी छा गई। भई, असल में किसी भी हादसे की सूरत में ज़िम्मेदारी भी सोसाइटी और मैनेजमेंट की ही थी। यानी अगर बिल्डिंग की छत गिरती है और किसी बच्चे या बड़े को चोट लगती है तो सज़ा हम मैनेजमेंट या सोसाइटी के लोगों को ही झेलनी पड़ेगी। वैसे तो सैक्रेटरी साहिबा की दो टूक अंदाज़ में कही गई बात मुनासिब थी। क्या करें इससे अगर स्टाफ़ को अपनी कमज़ोर हैसियत का अंदाज़ा हुआ या फिर यह लगा कि मैनेजमेंट की नज़र में उनकी क़दर नहीं है। मैं सिर्फ़ यह बैठक ही करवा सकती थी ताकि एक-दूसरे के नज़रिये को समझ सकें, न अंदाज़ बदल सकती थी और न ही सूरतेहाल बदल सकती थी।

मैं, सैक्रेटरी मैडम और प्रिंसिपल साहब जब नया स्कूल देखने पहुंचे थे तब अंदाज़ा हुआ था कि यह मुश्किल विकल्प है। सदर थोक बाज़ार के बीचों-बीच स्थित इस स्कूल के आसपास इतनी भीड़ थी कि रास्ता चलना मुश्किल हो रहा था। उस वक़्त भी महसूस तो हुआ था कि छोटे बच्चों को बहुत परेशानी होगी। दूसरी बात जिस पर हमने ग़ौर किया वह था कि स्कूल के आसपास हिन्दुओं, दलितों की बस्तियां थीं। जब समूहों के बीच सामाजिक फ़र्क की खाई होती है तो इतना रास्ता लांघना भी मुश्किल हो जाता है। शाम में वापस आकर मैंने तमाम मुमकिन परेशानियों का एक ब्यौरा तैयार करके एक चिट्ठी सैक्रेटरी मैडम को भेज दी।

कई बार हम बड़ों की इनायत को फर्ज़ समझकर अपने ऊपर लाद लेते हैं। हमारी सोसाइटी के चेयरमैन भी गवर्नर साहब की इनायत के तले दबे थे, उन्होंने इन दुश्वारियों को नज़रअन्दाज़ कर दिया। कहना था कि बड़ा मक़सद जो कि इमारत बनना था उसे सामने रखना चाहिए। यह छोटी-छोटी चीज़ें तो चलती रहेंगी। एक बार इमारत बन गई तो वह हमारा इस इलाक़े के लिए बड़ा तोहफ़ा होगा। बात अपनी जगह सही थी। लेकिन यह भी देखना होता है कि बड़े मक़सद की तरफ़ बढ़ने के लिए क़दम कितने लोकतांत्रिक और सही हैं। शायद क़दम ही मंज़िल होते हैं। हम अपने सच को औरों का सच या ख़्वाब नहीं मान सकते हैं।

असल में बिरादरी के कुछ लोगों की हरकतों से तो स्कूल और सोसाइटी दोनों परेशान ही रहे हैं। जिसका ज़िक्र मैंने पहले भी किया है। जैसे छुट्टी के दिन स्कूल बाहरी मैदान शादियों-तक़रीबों के लिए किराए पर देता है। छुट्टी के अलावा भी मैदान में तक़रीब करने का आग्रह, मना करने पर हंगामा। साथ ही स्कूल से लगे हुए ऊंचे मकान और कारख़ाने हैं। इमारत बनने पर इनकी खिड़कियां-रौशनदान बन्द हो जाएंगे। सोसाइटी को लगा कि इन सब वजहों से बिरादरी वाले नहीं चाहते कि नई इमारत बने। अब आपसी फ़ासले तो ग़लतफ़हमियां और बढ़ा ही देते हैं।

कोर्ट में जंग

पता नहीं यह इन्साफ़ के नए मंदिर-मस्जिद जहां सुबूतों की बिना पर केस लड़े और जीते-हारे जाते हैं कितना मुद्दों को सुलझा पाते हैं। कोर्ट में पेशियों पर पेशियां चल रही थीं। अपील करने वालों के वकील और जवाबदेहों (यानी स्कूल मैनेजमेंट और शिक्षा विभाग) के वकीलों के अलावा बिरादरी ने अपनी तरफ़ से भी वकील खड़े किए। यह वकील हमारे मंत्री साहब के साहबज़ादे निकले। जी हां, वही मंत्री साहब जिन्होंने स्कूल में कम्प्यूटर भिजवाए थे और हमारे इलाक़े से लोकसभा के उम्मीदवार रहे थे। वे कोर्ट में यह साबित करने में लगे थे कि इन्जीनियरों की रिपोर्ट एक धोखा है, इमारत मज़बूत है, बच्चों को किसी क़िस्म का कोई ख़तरा नहीं है। स्कूल की मैनेजमेंट लैण्ड माफ़िया से मिल गई है और स्कूल को ख़त्म करना चाहती है। यानी, जिन बच्चों और बिरादरी के लिए सोसाइटी और स्कूल काम कर रहे थे वे ही उनके खिलाफ़ कोर्ट में खड़े थे। शिक्षा विभाग ने भी बिरादरी और अध्यापकों के शिकायती ख़त जो हमारे खिलाफ़ लिखे गए थे, कोर्ट में पेश किए। जी हां, हमारे टीचर भी हमारे खिलाफ़ थे और वे सब साथ थे। वैसे भी बच्चों की परवाह और उनकी खुद की परवाह के तार जुड़ रहे थे। एक बड़ी ग़लती जो सोसाइटी ने की वह थी कि उन्होंने बोसीदा इमारत का हवाला देकर, कोर्ट से, स्कूल बन्द करने की दरख़्वास्त की थी जो कि क़ुबूल कर ली गई। हमारे वकील साहब ने शायद यह कोर्ट पर दबाव बनाने के लिए किया ताकि जल्दी फ़ैसला हो जाए। बिरादरी के लोग इस बात से और ज़्यादा नाराज़ हो गए। उन्हें लगा कि हमने बोर्ड कक्षाओं के बच्चों का ख़्याल किए बग़ैर ही स्कूल गर्मी की छुट्टियों से महीना भर पहले बन्द करवा दिया।

बिरादरी और अध्यापकों के ख़त के कुछ अंश जो उन्होंने उप-शिक्षा-निदेशक को लिखे थे यहां मौजूद हैं। ये ख़त शिक्षा विभाग ने अदालत में पेश किए थे।

बिरादरी का ख़त

...हमें ऐसा लगता है कि इस पूरे काण्ड में किसी भूमि-माफ़िया का बहुत बड़ा हाथ है। हमारी बिल्डिंग सही-सलामत है। हम आपका ध्यान इमारत और स्कूल के बारे कुछ और भी बातों के बारे में दिलाना चाहते हैं।

स्कूल के इस्तेमाल लायक़ न होने की घोषणा में किसी कमेटी को नहीं बनाया गया। गुपचुप तरीक़े से किसी ख़रीदे हुए निजी इंजीनियर से सर्वे का ढोंग करके अपना काम निकाला गया।

सर्वशिक्षा क्या कहने की बात है। जब चाहे कमेटी अपने फ़ायदे के लिए बिल्डिंग को टूटा कहकर हमारे बच्चों के पढ़ने का हक़ छीन ले। हमारी आपसे यही गुज़ारिश है कि हमारे बच्चों की पढ़ाई एकदम शुरू करवाई जाए और स्कूल को यहीं चलने दिया जाए। पुरानी बिल्डिंग की मरम्मत का काम गर्मियों की छुट्टियों में पूरा हो। बिल्डिंग कभी भी शिफ्ट न की जाए।...

अध्यापकों का ख़त

''...प्रधानाचार्य के आदेशानुसार सभी छात्रों की पढ़ाई तुरन्त रोक दी गई है क्योंकि प्रधानाचार्य महोदय के अनुसार स्कूल की बिल्डिंग जर्जर हालात में पहुंच गई है। महोदया, इस संबंध में हम स्कूल के अध्यापक आपका ध्यान निम्नलिखित बिन्दुओं पर दिलाना चाहते हैः

1. स्कूल की नई बिल्डिंग एकदम पक्की और दुरुस्त हालत में है।
2. नई बिल्डिंग में लगभग 10 कमरे हैं जिनमें कुछ कमरे तो इतने बड़े हैं जिनमें लगभग सौ छात्र तक एक साथ बैठ सकते हैं।

3. यदि भवन निर्माण के बहाने छात्रों को शाम की शिफ्ट के किसी स्कूल में भेजा जाएगा तो सभी छात्रों और अभिभावकों को काफ़ी परेशानियों का सामना करना पड़ेगा। हमारे विद्यालय में जो ग़रीब छात्र शाम के वक़्त अपने परिवार की आजीविका को बढ़ाने में हाथ बंटाते हैं उन छात्रों को शाम की शिफ्ट में भेजने के कारण अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़नी पड़ेगी।

4. विद्यालय में छात्र-छात्राएं एक साथ पढ़ते हैं। महोदया, यदि विद्यालय शाम की शिफ्ट में जाता है तो विद्यालय की सभी छात्राओं को सुरक्षा की दृष्टि से विद्यालय छोड़ना पड़ेगा।''

इन ख़तों के अलावा भी मैनेजमेंट के खिलाफ़ और कई दस्तावेज़ अदालत में पेश हुए जिनमें जो मामूली सी फ़ीस स्कूल बच्चों से लेता है उसकी रसीद भी शामिल थी। यह शिक्षा के अधिकार के तहत ग़ैरक़ानूनी सही लेकिन एक सरकारी मदद से चलने वाला स्कूल, अध्यापकों की तनख़्वाह के पांच फ़ीसदी भला कहां से जुटाएगा? ख़ैर यह तो लम्बी बहस है।

जब भरोसा पैदा किए बग़ैर बड़े क़दम उठाए जाते हैं तो यह ही होता है। और भरोसा बातचीत के खुले रास्तों और नज़रियों को समझने तब क़दम बढ़ाने दूसरों के क़दमों को जगह देने से ही बनता है। यह मेरी कोशिश के बावजूद मुमकिन नहीं हो पाया था। तंत्र में जिन्हें रुत्बा और फ़ैसलों में तरजीह हासिल है उन्हें खुद तक पहुंचने के रास्ते हमेशा खुले रखने चाहिए। यह चूक तो हम मैनेजमेंट और सोसाइटी वालों की थी।

नया स्कूल और नए मुद्दे

वैसे तो मुद्दे नए नहीं थे। टीचर और बिरादरी ने हमें आगाह करने की कोशिश तो की थी। हम जब उनके चश्मे और तजुरबों के आईने से चीज़ों को देखना ही नहीं चाहते या फिर वाक़ई उन्हें और उनके तजुरबों को ऐहमियत ही नहीं देते तो क्या करें। जैसा कि मैंने पहले लिखा है कि स्कूल से बेपनाह लगाव में भी अलगाव की बू है। शायद बिरादरी वालों को यह महसूस होता है कि और इदारों के दरवाज़े उनके बच्चों के लिए खुले नहीं हैं। ऊपर से घेटो में स्थित इस स्कूल में भेजने पर एक तहफ़ुज़ का एहसास तो होता ही है।

लोगों को अपने बच्चों को उस नए इलाक़े में भेजने पर ऐतराज़ था। उनके हिसाब से, ''अरे मैडम आपने बच्चे-बच्चियों को यहां कहां डलवा दिया। आसपास हिन्दुओं का, दलितों और खटीकों का इलाका है। कब क्या लड़ाई- दंगे हो जाएं, वक़्त का कुछ पता नहीं है।'' या फिर, ''सर्दियों में तो स्कूल की छुट्टी होते-होते रात हो जाती है, जवान बच्चियां ऐसे इलाक़े से निकलकर घर जाती हैं ठीक नहीं है''। एक दिन मैं इसी स्कूल के स्टाफ़ रूम में बैठी थी, एक चौथी जमात् का बच्चा वाइस प्रिंसिपल से घर जल्दी जाने की इजाज़त लेने आया। उन्होंने पूछा, ''इतनी दूर घर अकेले पहुंच जाओगे?'' बोला, ''जी मैम, मैं मुसलमानों के मौहल्ले से होता हुआ जाऊंगा''। बच्चों को घर और स्कूल से निर्देश दिए गए थे कि समूह बनाकर, बच्चियों को साथ लेकर जहां तक हो सके मुसलमानों के मौहल्लों से ही होते हुए जाएं। एक दिन एक हैरान परेशान टीचर ने ख़बर दी। ''शाम में छुट्टी के बाद घर जाते वक़्त नज़र जो पास वाले मंदिर के अंदर गई तो देखा कि हमारे कई बच्चे अंदर खड़े मंदिर की घंटी बजा रहे हैं। कोई अगर देख लेता और ऐतराज़ करता तो, मैंने आवाज़ देकर बुलाया और वहीं दो-तीन चांटे लगाए।''

कुछ मौहल्लों से जहां से बच्चे आते थे, वहां से स्कूल ज़्यादा दूरी पर था। ऊपर से प्राइमरी के छोटे बच्चों को अकेले इस भीड़-भाड़ वाली जगह पहुंचना मुश्किल था। कुछ बच्चों के मां-बाप उन्हें पहुंचाने आते थे लेकिन सब मज़दूर पेशा लोगों के लिए नियमित रूप से टाइम निकालना भी मुश्किल था। क्योंकि स्कूल दूर था, छोटे बच्चे रिक्शे से भी आते थे। जिनके कई बच्चे स्कूल में पढ़ते थे उनके लिए 600 रुपये फ़ी बच्चे के हिसाब से डेढ़-दो हज़ार रुपये का ख़र्चा मुश्किल ही था। बड़े बच्चों में से जो मज़दूरी करते थे उनके लिए शाम की शिफ्ट में स्कूल पहुंचना ज़्यादा मुश्किल हो गया।

बिरादरी और अध्यापकों की पेशनगोई ठीक थी। काफ़ी बच्चों ने स्कूल छोड़ दिया। प्राइमरी स्कूल तो जैसे ख़ाली सा हो गया। तक़रीबन 350 बच्चों में से सिर्फ़ 65 बच्चे स्कूल आ रहे थे। वह अलग बात है कि सबने हमसे तबादलाई सर्टिफ़िकेट नहीं लिए तो उनका नाम भी रजिस्टर से नहीं काटा। कुछ बच्चियों और बड़े बच्चों ने भी स्कूल छोड़े, कुछ ने कहीं और दाख़िला लिया, कुछ ने वह भी नहीं किया। यह तमाम मिली-जुली वजह रहीं जिसकी वजह से स्कूल में बच्चों की तादाद बहुत कम हो गई।

अगर आज शहर को दखें तो मुसलमान किनारों पर घेटों में क़ैद नज़र आते हैं। कई हैसियतदार लोगों से ये पूछने पर कि वे इन तंग गलियों वाले गंदे इलाके में क्यों रहते हैं किसी साफ़-सुथरे नए इलाके में क्यों नहीं चले जाते? ये कहा गया, ''कहां जाएं यहां कम से कम जान, इज़्जत, आबरू तो बची हुई है। गुजरात कैसे भूल जाएं। उन्नीस सौ चौरासी में जब इन्होंने सरदारों को नहीं छोड़ा तो हमें क्या छोड़ेंगे।'' जबकि ऐसा नहीं है कि हिन्दू मुसलमानों में काम से जुड़े रिश्ते और आपसी ताल्लुक़ात न हों। यह सब अपनी जगह है लेकिन डर का एहसास बना हुआ है। दिल्ली शहर में हमारे स्कूल के इलाक़े के अलावा और कई घेटो हैं जैसेः जामिया नगर, सीलमपुर, कच्ची खजूरी वग़ैरा। डर का एहसास, साथ ही यह हावी एहसास कि सरकार और पुलिस-कोर्ट उनके नहीं हैं उन्हें यहां क़ैद होने पर मजबूर करता है। एक और वजह यह भी है कि उनकी संस्कृति को आम या सार्वजनिक इलाकों में इज़्ज़त भी हासिल नहीं है, बल्कि नीची निगाह से देखा जाता है। सार्वजनिक स्थानों पर जो संस्कृति झलकती है वह प्रभुत्वशाली दलों की है जो उन्हें हिम्मत बख़्शती है। अल्पसंख्यक दलों की संस्कृति का आम न होना उनसे हिम्मत छीनता है। स्कूल का इलाक़ा भी एक टापू नुमा घेटो है जहां लोग अपने इदारे को बचाने की लड़ाई लड़ रहे थे। इन लोगों के पास नेता नहीं हैं लेकिन नेतागिरी करने वालों से घिरे हैं जो इन्हें आसानी से मोहरा बना पाते हैं। बच्चों का स्कूल छोड़ना और वालदैन की फ़िक्र से पता चलता है कि यह डर एक हावी एहसास था। दूसरी तरफ़ शहर में ऐसे इलाक़े और स्कूल हैं जहां मुसलमान बच्चे न के बराबर हैं या नहीं हैं। कई बार ऐसे इदारों में पढ़कर बच्चे न एक-दूसरे को जान पाते हैं और मीडिया की बनाई गई तस्वीरों पर यक़ीन करते हैं। इनमें कई बार मुसलमानों को जंगली, अजीबोग़रीब और दहशतगर्द भी दिखाते हैं। आज क्या हम ऐसे वक़्त में हैं जहां हम साथ लेकिन अलग-अलग सी अपनी दुनिया में जी रहे हैं। सच्चर कमेटी रिपोर्ट बात करती है साझा जगहों की जहां लोग और बच्चे साथ आ सकें ताकि एक-दूसरे को समझ सकें। शायद अब वक़्त है कि ऐसी जगह बनाई जाएं या स्कूलों को ही ऐसा बनाया जाए कि नई नस्ल के बीच की दीवारें गिर सकें। क्या अब इस दिशा में सोचना और एक पॉलिसी के रूप में लागू करने का वक़्त आ गया है?

औहदे-रुत्बे और दूरियां-दरारें

मिली-जुली परेशानियां और सोसाइटी-मैनेजमेंट के बेरुख़ी के रवय्यै ने अध्यापकों को साथ खड़ा कर दिया था। क्योंकि बातचीत के दरवाज़े बन्द थे तो अफ़वाहों को ख़ूब जगह मिल रही थी। आपसी ऐतबार पर लगातार काम करना होता है, जिस पर मेरे अलावा, सोसाइटी के और मैम्बरान ने काम नहीं किया था। अध्यापकों को यह भी खूब अंदाज़ा था कि उन लोगों के सामने मेरी हैसियत डामाडोल ही है यानी फ़ैसले तो उन्हीं के चलने थे।

औहदे से जुड़ी ताक़त का फ़ायदा कई तरह से उठाया जा सकता है। लोगों को सहारा देकर, बात सुनकर-समझकर, मिले-जुले फ़ैसले लेकर। जब ऐसा नहीं होता है तो एक तरफ़ डराना-धमकाना दूसरी तरफ़ वापसी दबाव बनाना या मैनेजमेंट की ज़बान में कहें तो 'बग़ावत' करना ही विकल्प रह जाता है। जब 'हमारे' टीचर ही हमारे ख़िलाफ़ हो गए तो मैनेजमेंट का गुस्सा लाज़मी था। 'हमारे' कहने में आपको हमारी नाक और साख का अंदाज़ा अगर हुआ तो सही हुआ। जब हम मालिकगिरी दिखाएंगे तो साथी कहां पाएंगे। तब कर्मचारियों की मिली-भगत ही उन्हें ताक़त का रास्ता सुझाएगी। जब 'हुक्म' नहीं माना जाता तो हथियारों का इस्तेमाल होता है। जी, हथियार भी इस्तेमाल किए गए। जैसेः यह ऑर्डर निकाला गया कि गर्मी की छुट्टी में किसी को शहर से बाहर जाने की इजाज़त नहीं है। या फिर अध्यापकों की तनख़्वाह के बिल पर वक़्त से हस्ताक्षर नहीं किए गए जिस वजह से उन्हें तनख़्वाह लगातार दो महीने देरी से मिली। जिन परिवारों में कमाने वाला बस एक फ़र्द है, वहां क़ाफी दुश्वारी हुई। जिन लोगों ने बैंक से कर्ज़ा ले रखा था और

क़िस्त देते थे उन्हें भी काफ़ी परेशानी हुई। इसके अलावा एक साहब को जो प्रिंसिपल साहब के छुट्टी पर जाने की वजह से उनकी जगह स्कूल देख रहे थे मीमो दिया गया। बल्कि यह ख़त मेरी तरफ़ से ही जारी किया गया था। असल में असैम्बली के दौरान, उस दिन, बिरादरी के एक जनाब ने माइक पर मैनेजमेंट के लोगों को बुरा भला कहा था। उन्होंने इस हरकत को रोकने की ख़ास कोशिश नहीं की। साफ़ ज़ाहिर था हमारे ख़िलाफ़ हैं सो धमकाया गया। यानी लाइन पर लाने के सब पैंतरे अपनाए जा रहे थे। एक दिन हमारे एक सीनियर साथी ने मुझसे कहा भी था, ''करना यह चाहिए कि एक को घेर लो बाकी लोग खुद लाइन पर आ जाएंगे।'' प्रिंसिपल साहब को भी डांटा, फटकारा, डराया गया। उनकी हालत सबसे ख़राब थी। वो असातूज़ा से अलग थे बल्कि मैनेजमेंट और स्टाफ़ के बीच की कड़ी थे भी और अपना रोल भी खुद कुछ ऐसा ही समझते थे। उन्हें मैनेजमेंट हुक्म पर हुक्म दे रहा था। स्टाफ़ उन्हें मैनेजमेंट का पिट्ठू समझ रहा था। यह भी पता था कि मैनेजमेंट के मुकाबले में वे कमजोर हैं। आपने उनके ख़त में देखा ही होगा कि अपनी बात कहने के लिए इल्ज़ाम फ़ुजूल में प्रिंसिपल साहब के सर धर दिया। मौहल्ले वालों ने तो बस मारने से ही छोड़ा, गाली-गलौज तो मामूली बात ठहरी।

ऐसा कमाल भी नहीं हुआ कि सभी टीचर हाथ पकड़े बराबरी से खड़े हों। जिन 'समझदारों' ने शिक्षा विभाग भेजी गई शिकायती चिट्ठी पर हस्ताक्षर नहीं किए उन्हें ग़द्दार समझा गया। उन्हें स्कीम में शामिल कम किया गया। एक टीचर ने मुझसे कहा भी, ''मैम, स्कूल में बिलकुल अच्छा नहीं लगता किसी तरह टाइम पूरा करते हैं और भागते हैं। अजीब ग्रुप बन गए हैं, हमें आता देखकर लोग फुसफुसाने लगते हैं, अगर बातें करते होते हैं तो चुप हो जाते हैं''। स्कूल में अजीब खिंचाव का माहौल था, आपसी रिश्ते तार-तार हो रहे थे।

आप पूछना चाहेंगे, इस दौरान मैं क्या कर रही थी? शुरू में काफ़ी कोशिश की कि मैनेजमेंट और स्कूल स्टाफ़ एक दूसरे का नज़रिया समझें। बिरादरी और स्टाफ़ के साथ सैक्रेटरी मैडम की बैठकें भी हुई, जो बहुत कामयाब नहीं रहीं। टीचर-बिरादरी स्कूल शिफ्ट करने के खिलाफ़ ही रहे जबकि मैनेजमेंट को बच्चों की हिफ़ाज़त और इमारत की तामीर होने का पहला क़दम यह ही नज़र आ रहा था। अगर साथ में मिलकर सोचते तो शायद शिक्षा विभाग पर पास का स्कूल देने के लिए दबाव बना सकते थे। बिरादरी की कुछ सुनते तो शायद प्राइमरी की कक्षाएं अपने ही स्कूल की मज़बूत बिल्डिंग में चला लेते। ग्यारहवी-बारहवीं तो वैसे भी यहीं चल रही थी। मिलकर सोचा ही नहीं।

मुझ पर भी शक-शुबह के दायरे थे। यह भी काबू करने के हथियार ही हैं। मेरे सीनियर साथियों को शक था कि मैं बिरादरी और टीचर हज़रात का साथ दे रही हूं। मैं यह ज़रूर कर रही थी कि उनका नज़रिया-ख़याल ऊपरी गद्दी तक पहुंचा दूं ताकि उस रौशनी में फ़ैसले हो सकें। किसी तरह की साज़िश नहीं थी। जब मुझ पर खुले आम व्यंग्य और ताने कसे गए तो लड़ बैठी। हां, इतनी हैसियत तो थी कि आमने-सामने लड़ सकूं। लेकिन फिर इस हैसियत को रौंदने का सिलसिला चला। हुक्म सोसाइटी से सीधा प्रिंसिपल साहब को शाया हो रहे थे। जब लगातार ऐसा हुआ तो मैंने छुट्टी ले ली। मुक़दमा चलता रहा। छुट्टी लेने से पहले जो मदद मैं स्टाफ़ की कर सकती थी वो मैंने की। जैसे तनख़्वाह के बिल पर दस्तख़त फ़ौरन किए और इस दरख़ास्त के साथ ऊपर भेजा कि असातूज़ा को तनख़्वाह फौरन दे दी जाए जबकि दो महीने तो ऐसा नहीं किया गया। क्योंकि तनख़्वाह वक़्त पर नहीं मिल रही थी इसलिए कई टीचर ने और प्रिंसिपल साहब ने अपने जी.पी.एफ. अकाउंट से पैसे निकलवाने चाहे जिसकी इजाज़त मैंने फ़ौरन खुशी से दी। इस अकाउंट के चैक पर दस्तख़त करने का इख़्तियार मुझे था। एक टीचर मेरे पास आए, इस गुज़ारिश के साथ कि वे अपने घर बिहार जाना चाहते हैं क्योंकि उनके यहां वलादत होने वाली। उन्हें फ़ौरन इजाज़त दी और उनकी चिट्ठी पर लिख दिया कि मैं उन्हें खुशी से इजाज़त दे रही हूं और उसकी कॉपी उन्हें रखने के लिए दी। क्या करती सोसाइटी की तरफ़ से फुज़ूल की पाबंदियां जो लगा दी गई थीं। स्कूल की छुट्टी जल्दी करने की इजाज़त भी दी ताकि सब रात होने से पहले अपने घर पहुंच जाएं।

यह कहना यहां जरूरी है कि सोसाइटी के पास पाबंदियों के जायज़ होने की दलीलें मौजूद थीं। जैसे टीचर हज़रात को दिल्ली से बाहर जाने की इज़ाजत इसलिए नहीं दी गई कि जब स्कूल जल्दी बन्द कर दिया गया था तो यह सोचा जा रहा था कि गर्मी की छुट्टी जल्दी ख़त्म कर दी जाएगी।

डराने और 95 फ़ीसदी की सरकारी मदद का एहसान रखने में शिक्षा विभाग भी कहां पीछे रहने वाला था। स्कूल की इमारत का मुआइना करने आए तो अध्यापकों को धमका गए। एक टीचर का मेरे पास फ़ोन आया, ''मैम ई.ओ. (Education Officer) मैडम कह रही थी हम बच्चों को अलग-अलग स्कूलों में बांट देंगे, जगह देने की क्या ज़रूरत है, स्कूल ख़त्म हो जाएगा।''

तंत्र की ग़ैर-बराबरियों, औहदों से जुड़ी सत्ता को बेलगाम छोड़ने का नज़ारा तो ऊपर मौजूद है। क्या स्कूली संगठन या आयोजन को लोकतांत्रिक बनाने का पहला क़दम लोकतंत्र को समझना और अपने यक़ीन का हिस्सा बनाना ही होगा? इसके बग़ैर औहदों की ज़िम्मेदारी में कब अनाप-शनाप सत्ता की मिलावट हो जाए कहना मुश्किल है। दबदबा, डराना-धमकाना, वापसी दबाव में सादिक़ जज़्बे भी कहीं खो से जाते हैं। यह भी सही है कि हम सब अपना-अपना फ़ायदा भी देखते हैं, यह फ़ितरी चीज़ है।

लेकिन बच्चों के हक़ में बेहतर फ़ैसलों में सबका दख़ल लाज़मी है। स्कूल तंत्र न तो मशीन है जिसमें हर हिस्से का एक रोल हो, न एक तयशुदा रास्ता है, बल्कि अलग-अलग लोगों-भागीदारों के लिए इसके मक़सद और मंज़िल भी अलग-अलग हैं। संगठन में सबका साथ लोकतंत्र ही की देन होता है। फ़ैसलों में दख़ल और सत्ता भी तोल के हिसाब से बंटी नहीं होती है। इसका जायज़ इस्तेमाल मिले-जुले फ़ैसलों से ही मुमकिन है। और इदारे को लोकतांत्रिक बनाने की पहल ज़्यादा ज़िम्मेदार कुर्सियों को करनी पड़ती है। जब अपने स्टाफ़ के साथ काम करना था तो मैंने अपनी जगह बनाने की कोशिश की। हर साल की तरह शिक्षक दिवस पर साथ में चाय पीते हुए, कुछ ने कहा, ''मैम, हम तो अनाथ हुए पड़े थे आप कहां थीं?'' कुछ ने मोहब्बत का इज़हार किया, कहा, ''मैम, हमें पता है आपने हमेशा हमारा भला चाहा है और हमारे साथ हैं।''

टीचर हज़रात की सोसाइटी से रंजिश का एहसास जब हुआ जब उन्होंने सोसाइटी की तरफ़ से भेजे गए चॉकलेट और कोल्ड ड्रिंक लेने से साफ़ इंकार कर दिया। इसी दौरान जब मैंने अपने अरबी के उस्ताद से उनके हाल दरयाफ़्त किए तो उन्होंने बाक़ायदा तरन्नुम के साथ यह कलाम सुना डाला। इशारा सोसाइटी की तरफ़ से भेजे गए नाश्ते की तरफ़ तो था ही लेकिन तीर मुझे भी लगे।

यह पाकिस्तानी शायर पीरज़ादा क़ासिम का कलाम है, जिस तरह हमारे सलाम साहब ने इसे पेश किया मैं उसी तरतीब से लिख रही हूं

ज़ख़्म दबे तो फिर नया तीर चला दिया करो
दोस्तो अपना लुत्फ़े ख़ास याद दिला दिया करो।

सादा दिलों से दूर क्या सारे आज़ाब भूल जाएं
करके उन्हें लहू लुहान प्यार जता दिया करो।

शहर करे तलब अगर, तुमसे इलाजे तीरगी
साहबे इख़्तियार हो आग लगा दिया करो।

प्यासी ज़मीन को तो एक जुर्रा-ए-ख़ून है बहुत
मेरा लहू निचोड़कर प्यास बुझा दिया करो।

जज़्बए ख़ाक परवरी और सुकून पाएगा
ख़ाक करो हमें तो फिर ख़ाक उड़ा दिया करो।

अब यह खूबसूरत शिकायत तो सर आंखों पर ही ली जाएगी। मैंने वापस आकर यह ग़ज़ल फ़ोन पर सोसाइटी की सरपरस्त को भी सुनाई। कुछ बोली नहीं बस हंसती रहीं।

नए उतार-चढ़ाव

अदालत की पेशियां तो चल ही रही थीं। इस बीच में हमारी सोसाइटी के नए चेयरमैन नियुक्त हो गए। जैसा कि मैं पहले लिख चुकी हूं जामिया मिलिया इस्लामिया के वाइस चांसलर (V.C.) सोसाइटी के सदर होते हैं। यह सिलसिला ज़ाकिर साहब के ज़माने से चला आ रहा है। अब सोसाइटी, स्कूल और बिरादरी में सियासी मामले तो उबाल पर थे ही, उन्होंने अपनी टीम यानी सोसाइटी के कुछ अहम् लोगों को बदल दिया। यह तो मैं यहां याद दिलाना चाहूंगी कि पुरानी टीम का जज़्बा सादिक़ था। सोसाइटी के साथियों की कोई ज़ाती मफ़ात या फ़ायदा इस तमाम सिलसिले से जुड़ा नहीं था। इमारत की हालत बोसीदा थी, बच्चों के तहफ़ुज़ की फ़िक्र भी थी। लेकिन सियासी दांवपेच में जज़्बे की सदाक़त कहीं खो गई।

जब अदालत में नई टीम पेश हुई जिसका रुख़ बदला हुआ था तो अदालत भी दूसरी करवट ही बैठी। नई टीम ने बिरादरी और अध्यापकों की बातों पर ज़्यादा ग़ौर किया और अदालत में यह ही हामी भरी कि बच्चों का अपने स्कूल में वापस आना ही बेहतर है तो फ़ैसला इसी के हक़ में हुआ।

फैसले में यह कहा गया कि नई इमारत बनाने का कोई इन्तेज़ाम सोसाइटी के पास फ़िलहाल नहीं है। साथ ही दिल्ली म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन से स्कूल की मज़बूती के बारे में रिपोर्ट मांगी गई थी। इस रिपोर्ट के हिसाब से स्कूल कुछ जगहों से ख़तरनाक है जबकि कुछ जगहें इस क़ाबिल हैं कि उनकी मरम्मत हो सके। पुरानी रिपोर्टों को नज़र अन्दाज़ कर दिया गया था। स्कूल इन्तजामिया को यह निर्देश दिए गए कि स्कूल की मरम्मत करवा कर बच्चों को वापिस स्कूल लाया जाए। अब बच्चे वापिस स्कूल आ गए हैं। बिरादरी वालों ने स्कूल की मरम्मत में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। हैसियतदार लोगों ने पैसे जोड़कर 20-21 कमरों की मरम्मत करवा दी। टीचर भी काफ़ी मुतमइन हैं।

स्कूल चल रहा है। इदारे चलते रहते हैं लोग आते-जाते रहते हैं। तकलीफ़ बस इस बात की है कि इदारों में किस काम को एहमियत दी जाए या फिर नहीं दी जाए, यह ऊपर बैठे अफ़सरों से तय होता है। नई टीम बहुत से नए काम कर रही है लेकिन एक साल की कशमाकश ने बहुत से पुराने कामों को पीछे धकेल दिया है। अब न तो हाउस सिस्टम है, न बच्चों की काउंसिल, न जलसे और इसी तरह की बहुत सी चीजें। अपनी सुस्त चाल से सब चल सा रहा है। शायद जल्दी ही जब अफ़सरों की तवज्जह इस तरफ़ जाएगी तो चीज़ें फिर संभलेंगी, बदलेंगी। नई टीम के आने के बाद मैंने मैनेजर के पद से इस्तीफ़ा दे दिया, जबकि हमारे चेयरमैन ने मुझसे काम जारी रखने के लिए कहा था। कुछ तो थक गई थी, कुछ अपनी जिम्मेदारियों को सही से न निभा पाने का एहसास था।

ख़ैर, इदारा तो अपना काम कर ही रहा है। जब कभी मौक़ा होगा तो मैं फिर जुडूंगी। मैं लोगों से मिलती हूं तो कहती जरूर हूं "मेरा स्कूल से रिश्ता किसी औहदे का मोहताज नहीं है" लेकिन आप भी जानते हैं और मुझे भी पता है कि औहदा हमें काम करने का रास्ता तो दिखाता ही है। दिल में एक ख़ालीपन घर कर गया है। ◆

लेखिका परिचयः दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं।